बंगाल में तुष्टिकरण की राजनीति का महा-पतन

विजय कुमार झा
वरिष्ठ पत्रकार

एक पुरानी कहावत है कि पाप का घड़ा चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, एक न एक दिन उसका फूटना तय है. जब सत्ता के गलियारों में अहंकार सिर चढ़कर बोलने लगे और लोकतांत्रिक मूल्यों को दरकिनार कर केवल एक विशेष वर्ग के तुष्टिकरण को ही सत्ता सुख भोगने का एकमात्र जरिया मान लिया जाए, तो विनाश की पटकथा अपने आप लिखी जाने लगती है. आज पश्चिम बंगाल की भूमि से जो राजनीतिक और सामाजिक संदेश निकल रहा है, वह देश के उन तमाम राजनीतिक दलों और नेताओं के लिए एक खुली चेतावनी है, जो तुष्टिकरण की राजनीति के सहारे लंबे समय तक सत्ता का आनंद लेना चाहते हैं.

पश्चिम बंगाल में पिछले 15 वर्षों से सत्तासीन ममता बनर्जी और उनकी पार्टी तृणमूल कांग्रेस (टीएमसी) का वर्तमान हश्र यह स्पष्ट करता है कि अहंकार और कुशासन का अंत कितना भयावह होता है. इस महा-पतन की शुरूआत तब हुई, जब पार्टी के भीतर अलोकतांत्रिक तरीके से तानाशाही और भय का माहौल बनाया गया. पार्टी के पूर्व राष्ट्रीय प्रवक्ता रिजू दत्ता के अनुसार, पिछले तीन वर्षों में ममता बनर्जी ने पार्टी की पूरी कमान अपने भतीजे अभिषेक बनर्जी के हाथों में सौंप दी थी. इसके बाद पार्टी में आंतरिक लोकतंत्र पूरी तरह समाप्त हो गया. विरोध की आवाज उठाने वालों पर पुलिसिया कार्रवाई, झूठे मुकदमे और गांजे के केस लाद दिए जाते थे.

इस दमघोंटू माहौल का परिणाम यह हुआ कि ममता बनर्जी के अपने ही घर में विद्रोह की आग भड़क उठी. उनके सगे छोटे भाई स्वप्न बनर्जी ने सिस्टम से त्रस्त होकर उनके खिलाफ बगावत का बिगुल फूंक दिया और ममता बनर्जी ने सार्वजनिक रूप से अपने ही भाई से सारे रिश्ते तोड़ लिए. पार्टी के भीतर पनप रहा यह आक्रोश अंततः एक बड़े राजनीतिक भूचाल के रूप में सामने आया है. टीएमसी के 80 में से 58 से अधिक विधायकों ने अभिषेक बनर्जी के तानाशाही रवैये और अहंकार के खिलाफ खुला विद्रोह कर दिया. इस बगावत के पीछे मुख्य कारण विधानसभा के भीतर नेता प्रतिपक्ष के चयन में अभिषेक बनर्जी द्वारा किया गया बड़ा फर्जीवाड़ा था, जिसमें कई विधायकों के फर्जी हस्ताक्षर कर विधानसभा सचिवालय को पत्र भेजा गया था. इस गंभीर जालसाजी के मामले में अब सीआईडी जांच चल रही है और अभिषेक बनर्जी पर कानूनी शिकंजा कस चुका है.

उधर, दिल्ली में टीएमसी के ज्यादातर सांसदों ने भी ममता के खिलाफ विद्रोह कर दिया है. राजनीतिक विश्लेषकों की मानें तो ममता बनर्जी का यह हश्र देश के अन्य उन क्षत्रपों जैसा ही होने जा रहा है, जिन्होंने केंद्रीय नेतृत्व और लोकतांत्रिक मर्यादाओं को चुनौती देने की भूल की थी. जैसे महाराष्ट्र में उद्धव ठाकरे के हाथ से उनकी शिवसेना और शरद पवार के हाथ से उनकी एनसीपी निकल गई और उनके अपने ही लोग पूरी पार्टी, चुनाव चिन्ह व झंडा लेकर चले गए, ठीक वही स्थिति आज बंगाल में दोहराई जा रही है. ममता बनर्जी को अब अपना राजनीतिक अस्तित्व खतरे में दिखाई दे रहा है, जिसके कारण वे जनता और अदालत दोनों जगह अपनी साख खो चुकी हैं. सबसे आंखें खोलने वाला पहलू यह है कि जिस मुस्लिम वोट बैंक को ममता बनर्जी अपनी बपौती मानती थीं और तुष्टिकरण की राजनीति के चरम पर जाकर बहुसंख्यक समाज को लगातार प्रताड़ित करती थीं, वही वोट बैंक आज उनसे छिटक गया है. विद्रोह करने वाले विधायकों में 17 मुस्लिम विधायक शामिल हैं, जो अब खुलकर ममता बनर्जी और अभिषेक बनर्जी के थोपे गए फैसलों के खिलाफ मुखर हो रहे हैं. यह इस बात का सीधा प्रमाण है कि तुष्टिकरण की राजनीति की एक मियाद होती है.

जब आप जनता को अपनी जागीर समझने लगते हैं, तो जनता चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, आपको सत्ता के शीर्ष से फर्श पर लाकर पटक देती है. ममता बनर्जी के शासनकाल में भ्रष्टाचार और अनैतिकता किस हद तक अपनी सीमाएं लांघ चुकी थी, इसका एक घिनौना उदाहरण कोलकाता के ऐतिहासिक सुरेंद्रनाथ कॉलेज के यूनियन रूम से मिला है. वहां सफाई के दौरान दो सूटकेस बरामद हुए, जो 500-500 रुपये के नोटों की गड्डियों से ठसाठस भरे हुए थे, जिन्हें खर्च करने की जगह न मिलने के कारण दीमक खा चुके थे. जनता का खून चूसकर कमाए गए इस कटमनी के काले धन का ऐसा हश्र यह साबित करता है कि अनैतिक तरीके से अर्जित संपत्ति कभी फलीभूत नहीं होती. आज स्थिति यह है कि टीएमसी के कई पार्षद और नेता गिरफ्तार हो रहे हैं, कई दफ्तरों की चाबियां लोग डर के मारे विपक्षी दलों को सौंप कर भाग रहे हैं और कोलकाता के मेयर फिरहाद हकीम जैसे खासमखास नेताओं ने अपने पदों से इस्तीफे दे दिए हैं.

तुष्टिकरण के सौदागरों के लिए सीधा संदेश

इस पूरे परिदृश्य से देश के तमाम राजनीतिक दलों के लिए एक स्पष्ट संदेश निकलता है कि देश की सुरक्षा, अस्मिता और बहुसंख्यक समाज की भावनाओं को कुचलकर केवल एक वर्ग विशेष के तुष्टिकरण के भरोसे सत्ता का सुख भोगने का दौर अब समाप्त हो चुका है. प्रधानमंत्री और गृह मंत्री जैसे संवैधानिक पदों पर बैठे व्यक्तियों को मंचों से गाली देना, उन्हें चोर, दंगाबाज या फासिस्ट कहना और भारतीय संघ (यूनियन ऑफ इंडिया) को खुलेआम चुनौती देना किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में स्वीकार्य नहीं है. जो नेता यह सोचते हैं कि वे गुंडागर्दी, भय के माहौल और कटमनी के साम्राज्य के बल पर हमेशा राज करेंगे, उन्हें बंगाल के इस बिखरते साम्राज्य को ध्यान से देखना चाहिए. जनतंत्र की असली ताकत यही है कि जब जनता का सब्र टूटता है, तो बड़े-बड़े तख्त और ताज हवा में उड़ जाते हैं.

व्यंग्य

ये तोड़ू लोग...!

रवि उपाध्याय
(लेखक व्यंगकार और राजनीतिक समीक्षक हैं)

हम तो पहले से ही जानते थे कि यह जब जब भी सत्ता में आते हैं तो यही करते हैं. कभी ये तोड़ते हैं कभी वो तोड़ते हैं. लगता है कि तोड़ना इनकी आदत में शुमार हो गया है. ऐसा लगता है कि यह आधुनिक युग के सबसे बड़े तोड़ू हैं. यूपी को ही देख लो यहां संन्यासी ने प्रदेश ने माफिया डॉन और गुंडों के वर्चस्व को तोड़ कर रख दिया है. बुलडोजर इस प्रदेश की पहचान बन गया है. वैसे बता दें कि तोड़ना एक नकारात्मक शब्द है. लेकिन इसकी परिणीति सकारात्मक कदम भी है. मकान तोड़ते तोड़ते काशी वाले मोटा भाई ने तो आनंद भवन में जन्मे लाल का प्रधानमंत्री की कुर्सी पर सबसे ज्यादा दिनों तक जमे रहने का ही रिकॉर्ड तोड़ डाला. सियासत में तोड़ने - फोड़ने का शानदार इतिहास रहा है.

देश में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ इस तोड़ू विधा का उपयोग नहीं किया गया हो. तोड़ने और टूटने का काम वहीं होता है जो कमजोर होता है. जब दल टूटता है तो सत्ता के सपने टूट जाते हैं. लोकतंत्र में तोड़ने फोड़ने का लंबा इतिहास रहा है. वैसे यह सर्व मान्य तथ्य है कि रिकॉर्ड और वायदों के मामले में यह कहा जाता है कि वे बनाए ही तोड़ने के लिए जाते हैं. लेकिन यह बात भी सही है कि नेताओं को भले देश टूटने का दर्द हो या न हो पर अपना रिकॉर्ड टूटने का दर्द तो होता ही है. हमारे देश की यह बदनसीबी है कि देश को आजादी ही उसके तोड़ने पर ही मिली थी. देश के सबसे बड़े तोड़ू अंग्रेज थे. जिन्होंने देश के तीन टुकड़े कर दिए थे और हमारे हीरे मोती तालियां बजा कर गा रहे थे. सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा, हम बुलबुलें हैं इसकी, गोरा रहनुमा हमारा. यही वजह है कि कहने को तो हम आजाद हो गए थे पर उसके दस महीने बाद भी लॉर्ड माउंटबेटन देश के गवर्नर जनरल बने रहे. यह हमारी आतिथ्य परंपरा का बेहतरीन उदाहरण है. हमने अपना राष्ट्रपति भी नहीं बनाया. हम हिन्दुस्तानियों के लिए जो मेहमान होता है वो भगवान होता है. इसकी मिसाल है गीतकार शैलेंद्र द्वारा जिस देश में गंगा बहती है फिल्म में लिखा गया यह गाना लिखा - मेहमां जो हमारा होता है वो जान से प्यारा होता है, ज़्यादा की नहीं लालच हमको थोड़े में गुजारा होता है. थोड़े में गुजारा होता है. तो गोरा महाप्रभु ने देश के टुकड़े कर हम को जो सौंपा उसे हमने उनके प्रसाद स्वरूप स्वीकार कर लिया. यह परंपरा है कि अतिथि जो मांगे उसे दे दो. उसे अपने दरवाजे से खाली हाथ मत लौटाओ. पाप लगता है. गोरा महा प्रभु के जाने के बाद हमारे लाल (सुर्ख़) नेताओं ने देश की कुछ ज़मीन पड़ोसियों को दान कर हमारी दान की परंपरा को जीवंत रखा. उनके जाने के बाद भी हमारे नेताओं ने देश कुछ टुकड़े कर पड़ोसियों को दान कर दिए. राम की चिड़िया राम का खेत खाओ री चिड़िया भर भर पेट.

सियासत में विद्वानों और राजनैतिक पंडों द्वारा अक्सर यह उपदेश दिया जाता है कि इंसान को दूसरे की लाइन छोटी करने की जगह अपनी बड़ी लाइन खींचना चाहिए. यह तो रहा पर उपदेश कुशल बहुतेरे, लेकिन असली मज़ा जितना दूसरे की लेन छोटी करने में है उतना मज़ा अपनी लाइन बड़ा करने में भला कहां धरा है. अब देखिए न हमारे पहले प्रधानमंत्री जी ने बड़ी मेहनत से सबसे ज्यादा दिनों तक प्रधानमंत्री की कुर्सी विराजमान रहे. भैया यदि ये कह देते तो भला तुम्हारा क्या बिगड़ जाता कि मोदी जी ने पीएम की कुर्सी पर जमे रहने का नया रिकॉर्ड बनाया, तो भैया तुम्हारा क्या बिगड़ जाता.

---

12 साल का सबसे लंबा कार्यकाल

उपलब्धियों का जश्न और आत्म मंथन!

राजीव खण्डेलवाल
(लेखक, कर सलाहकार एवं पूर्व अध्यक्ष, बैतूल सुधार न्यास)

स्वतंत्र भारत के इतिहास में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने लगातार तीन बार जनता का विश्वास प्राप्त 12 वर्ष से अधिक समय तक प्रधानमंत्री पद पर बने रहकर एक नया असाधारण राजनीतिक अध्याय रच दिया है. अधिकांशतः सफलतापूर्वक ठोस कार्य करने के लिए प्रधानमंत्री मोदी निश्चित रूप से बधाई के पात्र हैं.

राजनीति में उपलब्धियों का मूल्यांकन केवल दीर्घ अवधि से ही नहीं, बल्कि उस अवधि में किए गए कार्यों के प्रभावों से भी होता है. इसलिए यह अवसर उपलब्धियों और शेष चुनौतियों दोनों का निष्पक्ष मूल्यांकन करने का है. स्वयंसेवक'' प्रधानमंत्री मोदी की सबसे बड़ी राजनीतिक सफलता उन मुद्दों को मूर्त रूप देना रही है, जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जनसंघ से लेकर भारतीय जनता पार्टी के वैचारिक एजेंडे में दशकों से शामिल रहे हैं.

अयोध्या में भगवान श्रीराम मंदिर निर्माण, जम्मू-कश्मीर से अनुच्छेद 370 की समाप्ति तथा तीन तलाक पर कानून के साथ कॉमन सिविल कोड की दिशा में आगे कदम बढ़ाना ये ऐसे निर्णय हैं, जिन्होंने भाजपा के वैचारिक आधार और उसके समर्थक वर्ग को गहरा संतोष दिया है.

इन निर्णयों ने प्रधानमंत्री मोदी और संघ परिवार के बीच विश्वास के रिश्ते को और मजबूत किया है. एक तरह से मोदी ने अपने समर्थक वर्ग की ''बरसों की अधूरी प्यास'' बुझाने का कार्य किया है. परिणाम स्वरूप (मुख्य रूप से) ''संघ'' की मेहनत के ही बदौलत वे सत्ता पर बने हुए हैं.

दूसरी ओर, हर लंबे शासनकाल की तरह मोदी सरकार के सामने भी कुछ ''अनुत्तरित प्रश्न'' व चुनौतियां हैं. खासकर विदेश नीति के क्षेत्र में विशेष रूप से पड़ोसी देशों के साथ संबंध, वैश्विक शक्ति संतुलन, अंतरराष्ट्रीय मंचों पर बदलते समीकरण, चीन के साथ सीमा विवाद, पाकिस्तान प्रायोजित आतंकवाद, वैश्विक मंच पर पाकिस्तान अलग-थलग न कर पाना, निर्मम ''पहलगाम हत्याकांड'' का ''ऑपरेशन सिंदूर'' के द्वारा त्वरित सफल जवाब देने के बावजूद अंतरराष्ट्रीय जगत पर पाकिस्तान को उसके लिए जिम्मेदार ठहरा न पाना चुनौती बनी हुई है.

साथ वैश्विक आर्थिक अनिश्चितता विदेशी मुद्रा भंडार तथा मेक इन इंडिया व आत्मनिर्भरता के दावों को जमीनी हकीकत में बदलना भी शेष है. निश्चित रूप से मोदी की उपलब्धियों जितनी ही बड़ी भविष्य की चुनौतियां भी हैं. यहीं से एक दिलचस्प राजनीतिक प्रश्न खड़ा होता है. भारतीय जनता पार्टी और उसका वैचारिक परिवार वर्षों से पंडित जवाहरलाल नेहरू की नीतियों की किसी भी अवसर पर किसी भी फोरम पर संसद से लेकर सड़क तक, चुनावी मंचों से लेकर टीवी बहसों तक, कोई अवसर गवाएं बिना कड़ी आलोचना करती रही है.

ऐसी स्थिति में दशकों से राजनीतिक असफलताओं का प्रतीक, बदनाम, देश हित के विरुद्ध कार्य करने वाला नेहरू,को लक्ष्य मानकर, बताकर उसे ''उपलब्धि मापने'' का पैमाना बनाना समझ से परे है? क्या भाजपा का यह कदम ''विरोधाभासी'' नहीं माना जाना चाहिए? क्योंकि उपलब्धियां और आलोचनाएं दोनों स्तर पर ''नेहरू'' का सहारा लेना पड़ रहा है. राजनीति में कहा जाता है कि ''दूसरे की लकीर छोटी करने से बेहतर है, अपनी लकीर बढ़ी करना. '' वास्तव में भाजपा के पास पिछले बारह वर्षों की उपलब्धियों की लंबी सूची है. ऐसे में उसे अपनी सफलता सिद्ध करने के लिए किसी प्रतिद्वंद्वी नेता के रिकॉर्ड का सहारा लेने की

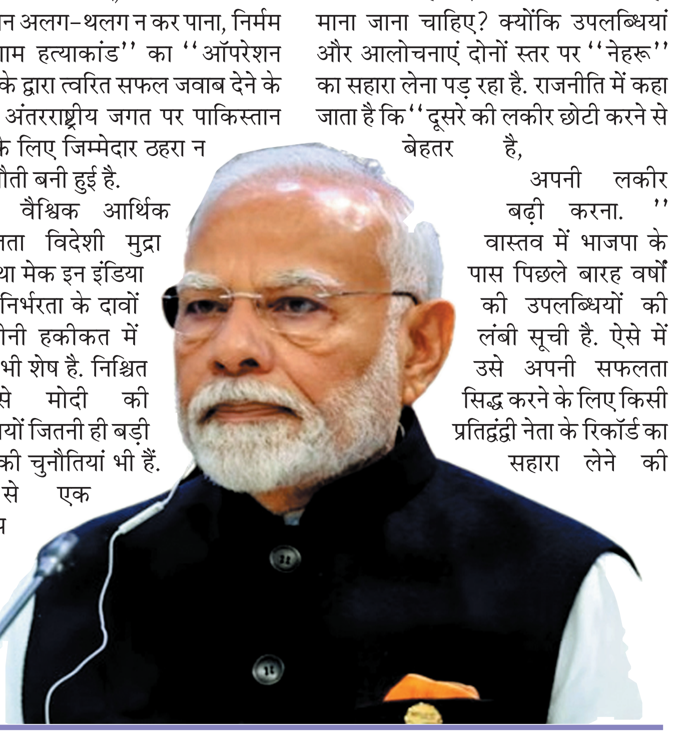

जब भीड़ फैसला सुनाने लगे

श्याम यादव

भीड़ केवल लोगों का समूह नहीं होती, बल्कि वह एक ऐसी मानसिक अवस्था भी है जिसमें व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत सोच, विवेक और जिम्मेदारी को पीछे छोड़ देता है। भीड़ की मानसिकता में भावनाएं तर्क पर हावी हो जाती हैं और लोग अक्सर वही करने लगते हैं जो समूह कर रहा होता है। इसी कारण कभी भीड़ किसी को नायक बना देती है तो कभी बिना पर्याप्त तथ्य जाने किसी के खिलाफ आक्रोश का रूप ले लेती है.' लोकतंत्र में जनता सर्वोच्च होती है. उसे अपने प्रतिनिधियों से सवाल पूछने, जवाब मांगने और विरोध दर्ज कराने का पूरा अधिकार है. लेकिन लोकतंत्र और भीड़तंत्र के बीच एक बेहद महीन रेखा होती है. जब तक असहमति संवाद, प्रदर्शन, ज्ञापन, जनसुनवाई और चुनाव के माध्यम से व्यक्त होती है, तब तक वह लोकतंत्र को मजबूत करती है. किंतु जब विरोध का स्थान भय, दबाव या हिंसा लेने लगे, तब स्थिति चिंता का विषय बन जाती है. पश्चिम बंगाल में हाल के दिनों में जनप्रतिनिधियों और राजनीतिक नेताओं के साथ दुर्व्यवहार तथा मारपीट की कुछ घटनाओं की खबरें सामने आई हैं.

वहीं इंदौर में पानी की समस्या को लेकर नागरिकों द्वारा एक विधायक के निवास के बाहर प्रदर्शन किए जाने की घटना भी चर्चा में रही. इन घटनाओं ने एक बार फिर उस प्रश्न को सामने ला खड़ा किया है, जिसे भारतीय लोकतंत्र लंबे समय से महसूस तो कर रहा है, लेकिन जिस पर गंभीर विमर्श अपेक्षित है. क्या जनता का असंतोष अब भीड़ के उग्र रूप में व्यक्त होने लगा है.

लोकतंत्र में जनता सर्वोच्च होती है. उसे अपने प्रतिनिधियों से सवाल पूछने, जवाब मांगने और विरोध दर्ज कराने का पूरा अधिकार है. लेकिन लोकतंत्र और भीड़तंत्र के बीच एक बेहद महीन रेखा होती है. जब तक असहमति संवाद, प्रदर्शन, ज्ञापन, जनसुनवाई और चुनाव के माध्यम से व्यक्त होती है, तब तक वह लोकतंत्र को मजबूत करती है. किंतु जब विरोध का स्थान भय, दबाव या हिंसा लेने लगे, तब स्थिति चिंता का विषय बन जाती है. भारत में भीड़ के उग्र होने की घटनाएं कोई नई बात नहीं हैं. विभिन्न आंदोलनों, सामाजिक तनावों और स्थानीय विवादों के दौरान कई बार सार्वजनिक संपत्तियों को नुकसान पहुंचाने, कानून-व्यवस्था को चुनौती देने और हिंसक टकराव की घटनाएं सामने आती रही हैं. कई अवसरों पर अफवाहों और अपुष्ट सूचनाओं ने भी भीड़ को भड़काने का काम किया है. इन घटनाओं ने यह संकेत दिया है कि भावनाओं के उफान में कभी-कभी सामूहिक विवेक पीछे छूट जाता है.

हालांकि हर विरोध प्रदर्शन को भीड़तंत्र कहना उचित नहीं होगा. इंदौर में पानी जैसी बुनियादी समस्या को लेकर नागरिकों का अपने जनप्रतिनिधि से जवाब मांगना लोकतांत्रिक अधिकारों के दायरे में आता है. वास्तव में यह लोकतंत्र की आत्मा है कि जनता अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों से संवाद करे और समस्याओं के समाधान की अपेक्षा रखे. लेकिन यदि ऐसी परिस्थितियां बार-बार उत्पन्न होने लगें कि लोगों को अपनी बात मनवाने के लिए दबाव की राजनीति का सहारा लेना पड़े, तो यह व्यवस्था के लिए चेतावनी का संकेत है.

पश्चिम बंगाल की घटनाओं को लेकर भी विभिन्न प्रकार की व्याख्याएं सामने आ रही हैं. कुछ लोग इन्हें जनता के असंतोष की अभिव्यक्ति मान रहे हैं, जबकि कुछ इन्हें स्थानीय राजनीतिक परिस्थितियों से जोड़कर देख रहे हैं. अंतिम निष्कर्ष तथ्यों और जांच के आधार पर ही निकाला जाना चाहिए. लेकिन इतना स्पष्ट है कि किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में शारीरिक हमले या अपमानजनक व्यवहार को सामान्य राजनीतिक प्रतिक्रिया नहीं माना जा सकता.

असल समस्या केवल भीड़ की नहीं, बल्कि घटते हुए भरोसे की भी है. जब नागरिकों को यह महसूस होने लगे कि उनकी शिकायतें सुनी नहीं जा रहीं, जब प्रशासनिक संवेदनशीलता कम होती दिखाई दे और जनप्रतिनिधि जनता से दूर होते प्रतीत हों, तब असंतोष धीरे-धीरे गहराता जाता है.

डिजिटल समावेशन के माध्यम से एक नागरिक राष्ट्र का निर्माण

डॉ दिलीप सिंह

किसी राष्ट्र की महानता केवल उसके आर्थिक उत्पादन या तकनीकी उपलब्धियों से नहीं आंकी जाती. यह उसके नागरिकों की गुणवत्ता, उनकी शिक्षा के स्तर और सामाजिक, आर्थिक तथा लोकतांत्रिक जीवन में उनकी सार्थक भागीदारी की क्षमता से मापी जाती है. यदि भारत एक महान नागरिक राष्ट्र बनने की आकांक्षा रखता है, तो शिक्षा और डिजिटल कनेक्टिविटी में निवेश उसकी सर्वोच्च प्राथमिकता होनी चाहिए. हालिया आंकड़े एक चिंताजनक वास्तविकता को उजागर करते हैं. कम शैक्षिक उपलब्धि और कम डिजिटल उपयोगिता वाले राज्य अक्सर कम प्रति व्यक्ति आय और चुनौतीपूर्ण जलवायु परिस्थितियों का सामना करते हैं. मध्य प्रदेश इस संबंध का एक स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है.

हालिया रिपोर्टों के अनुसार, मध्य प्रदेश में कुल टेली-डेंसिटी केवल 73.78 प्रतिशत है, जो बिहार और उत्तर प्रदेश के बाद भारत में तीसरी सबसे कम है, जबकि राष्ट्रीय औसत 93.69 प्रतिशत है. ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति और भी अधिक चिंताजनक है, जहां टेली-डेंसिटी लगभग 46 प्रतिशत है. शैक्षिक संकेतक भी समान रूप से चिंताजनक हैं. मध्य प्रदेश में प्राथमिक स्तर पर सकल नामांकन अनुपात (त्वश्वक्र) 76.3 प्रतिशत है, जबकि राष्ट्रीय औसत 103.4 प्रतिशत है. वहीं माध्यमिक स्तर पर त्वश्वक्रकेवल 45 प्रतिशत है, जबकि राष्ट्रीय औसत 79.6 प्रतिशत है. डिजिटल विभाजन शिक्षा क्षेत्र में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है. मध्य प्रदेश के केवल 45.7 प्रतिशत स्कूलों में इंटरनेट सुविधा उपलब्ध है, जो राष्ट्रीय औसत 63.5 प्रतिशत से काफी कम है. विश्वसनीय इंटरनेट पहुंच के बिना स्कूल डिजिटल शिक्षण प्लेटफार्म जैसे छक्कुयस्॥, ऑनलाइन कंटेंट लाइब्रेरी, वर्चुअल क्लासरूम और शिक्षक प्रशिक्षण मॉड्यूल का प्रभावी उपयोग नहीं कर सकते. परिणामस्वरूप, छात्र उन अवसरों से वंचित रह जाते हैं जो आधुनिक दुनिया में तेजी से अनिवार्य होते जा रहे हैं.

प्रथम दृष्टया ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इन खराब परिणामों के लिए केवल सरकारें जिम्मेदार हैं. हालांकि वास्तविकता अधिक जटिल है. भारत का संविधान न केवल राज्य को बल्कि नागरिकों को भी जिम्मेदारी सौंपता है. अनुच्छेद 51(द्म) माता-पिता और अभिभावकों का यह मौलिक कर्तव्य निर्धारित करता है कि वे 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों को शिक्षा के अवसर प्रदान करें. इसलिए शैक्षिक परिणामों में सुधार सरकार और समाज की साझा जिम्मेदारी है. हालांकि केवल बुनियादी ढांचा परिवर्तन नहीं ला सकता. नागरिकों को सक्रिय रूप से इन सुविधाओं का उपयोग करना चाहिए और अपने बच्चों के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की मांग करनी चाहिए. 2014-15 से 2019-20 के बीच मध्य प्रदेश में 29,000 से अधिक स्कूल बंद किए गए, फिर भी जनता ने मौन साधे रखा. शिक्षा के पतन के सामने इस मौन की कीमत आने वाली पीढ़ियों को चुकानी पड़ेगी और यह आय तथा अवसरों की खाई को और अधिक चौड़ा करेगी. जो समाज शिक्षा की गुणवत्ता के प्रति उदासीन रहता है, वह अंततः अपने ही भविष्य से समझौता करता है.

जलवायु परिवर्तन, बढ़ती असमानता और अवसरों की असमान पहुंच हमारे समय की सबसे बड़ी चुनौतियों में से हैं. इन चुनौतियों का समाधान ऐसे नागरिकों की आवश्यकता है जो सूचित और शिक्षित हों तथा जिम्मेदार आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय निर्णय ले सकें.

डिजिटल बहिष्कार के परिणाम केवल कक्षा तक सीमित नहीं हैं. जिन छात्रों के पास स्कूल में इंटरनेट सुविधा नहीं होती, उनके घरों में भी अक्सर यह सुविधा उपलब्ध नहीं होती. यह डिजिटल रूप से जुड़े और असंबद्ध परिवारों के बीच एक गहरी खाई पैदा करता है. इंटरनेट कनेक्टिविटी माता-पिता, आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं, स्कूल प्रबंधन समितियों और स्थानीय समुदायों को उपस्थिति, सीखने के परिणाम, नामांकन और स्कूल प्रदर्शन की निगरानी करने में सक्षम बनाती है. यह जवाबदेही को मजबूत करती है और शिक्षा में समुदाय की भागीदारी को बढ़ावा देती है. शिक्षा और डिजिटल कनेक्टिविटी में निवेश दीर्घकालिक लाभ प्रदान करता है. कई प्रकार की आर्थिक वृद्धि के विपरीत, जो पर्यावरणीय क्षरण की कीमत पर हो सकती है, ज्ञान-आधारित विकास आय बढ़ा सकता है और साथ ही पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रख सकता है. एक शिक्षित समाज अधिक नवाचारी, उत्पादक, पर्यावरण के प्रति जागरूक और सामाजिक रूप से जिम्मेदार होता है.